मानव विभाजन से परे

भारत विभाजन एक पुनर्विचार

संपादक

कंचन वर्मा

मैत्रेयी मंडल

मानव विभाजन से परे

भारत विभाजन एक पुनर्विचार

संपादक

कंचन वर्मा

मैत्रेयी मंडल

शिवालिक प्रकाशन

दिल्ली

प्रथम संस्करण : 2025

मूल्य : 700.00

ISBN : 978-93-48433-60-2

इस पुस्तक का कोई भी भाग किसी भी रूप में या किसी भी अर्थ में प्रकाशक एवं लेखक की अनुमति के बिना प्रकाशित नहीं किया जा सकता। सर्वाधिकार लेखक के अधीन है।

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक :
शिवालिक प्रकाशन
4759/23, अंसारी रोड़, दरियागंज
नई दिल्ली-11002
फोन : 011-42351161
ई-मेल : shivalikprakashan@yahoo.com

शाखा कार्यालय
प्लॉट सं. 394, संजय नगर कालोनी
पहरिया, रामदत्तपुर, वाराणसी (उत्तर प्रदेश)

International Branch:
64, Grant Boulevard, Dundas
Ontario, Canada L9H 4MI

भारत में प्रकाशित

विरेन्द्र तिवारी द्वारा शिवालिक प्रकाशन 4759/23, अंसारी रोड, दरियागंज नई दिल्ली-110002 के लिए प्रकाशित। शब्द संयोजन : एस.के. ग्राफिक्स, दिल्ली और आर.के. ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली द्वारा मुद्रित।

अनुक्रम

परिचय 5-6

1. मरिचझाँपि: सुंदरवन का असुंदर पक्ष -*प्रो. कमलानंद झा* 7-18

2. बांग्ला उपन्यास 'अब किसकी बारी है?': भारत-विभाजन पर एक अनौपचारिक बातचीत -*प्रो. गजेंद्र पाठक, डॉ. अभिषेक उपाध्याय* 19-26

3. विभाजन की पीड़ा: सिन्धियों का विस्थापन और साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति-*श्रीमती रश्मि रमानी* 27-41

4. 1947 के बँटवारे का दुःखद अनुभव: पंजाबी आत्मकथाओं के संदर्भ में-*डॉ. रजनी बाला* 42-55

5. हिंदी उपन्यास 'देश की हत्या' एवं पंजाबी उपन्यास 'अब न बसौ इह गाँव' में चित्रित भारत-विभाजन- *डॉ. अभिषेक उपाध्याय* 59-67

6. विभाजन, भारतीय मुसलमान और अस्मिता- *श्री उज्जवल कुमार सिंह* 68-78

7. वारि से काढ़ी गयी मीनों के वेदना एवं संत्रास का आख्यान: पिंजर-*सुश्री निधि सिंह* 79-91

8. विभाजन की प्रतिध्वनियाँ : काल्पनिक कथाएँ और स्मृतियों का पुनर्निर्माण-*डॉ. एस. रजनी* 92-100

9. तकसीम-ए-हिन्द, फ़साद, और हिजरत पर मबनी उर्दू अफसानों की बाज-किरअत-*डॉ. अब्दुस सामी* 101-108

10. कुर्रतुल ऐन हैदर का नावेल 'मेरे भी सनमखाने' का तकसीम-ए-हिंद की रोशनी में एक मुताला-*डॉ. मोहम्मद काशिफ* 109-115

विभाजन, भारतीय मुसलमान और अस्मिता

श्री उज्जवल कुमार सिंह
डॉक्टोरल फेलो, राष्ट्रीय परीक्षण सेवा, मैसूर

भारत का विभाजन, जिसे सामान्यतः एक राजनीतिक निर्णय या सत्ता-हस्तांतरण की प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है, वस्तुतः एक गहरे सामाजिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक संकट की जननी थी, जिसकी व्यापक और बहुआयामी परिणतियाँ भारतीय समाज की रचना, स्मृति और चेतना में आज तक विद्यमान हैं। यह विभाजन केवल दो राष्ट्रों के निर्माण का मामला नहीं था, बल्कि यह उस साझा इतिहास, सहअस्तित्व और गंगा-जमनी तहजीब का भी बंटवारा था, जिसे सदियों से भारतीय उपमहाद्वीप में विकसित किया गया था। इस ऐतिहासिक स्फोट ने अनेक स्तरों पर सामूहिक पहचान और व्यक्तिगत अस्मिता को झकझोर कर रख दिया, विशेषकर भारतीय मुसलमानों के लिए यह एक अनिर्णीत दुविधा का कारण बना। वह समुदाय, जो सदियों से इस भूभाग का अभिन्न अंग रहा था-मुगल स्थापत्य, सूफी परंपराएँ, उर्दू भाषा और हिंदुस्तानी संगीत के माध्यम से सांस्कृतिक योगदान देता रहा-विभाजन के बाद अचानक एक "अन्य" के रूप में देखा जाने लगा। मुसलमानों को दो विरोधाभासी पहचान-घोषणाओं के बीच बाँट दिया गया-एक ओर वे उस धर्म से संबंधित थे, जिसके नाम पर पाकिस्तान बना था, और दूसरी ओर वे उस राष्ट्र में रह गए थे, जो अब स्वयं को धर्मनिरपेक्ष तो कहता था, लेकिन व्यवहार में उनके प्रति संदेह और अलगाव की मानसिकता पनप रही थी। इस संदर्भ में भारतीय मुसलमानों की स्थिति एक बहुविन्यस्त अस्मिता के संकट का शिकार बन गई, जिसमें उन्हें बार-बार अपनी निष्ठा, देशभक्ति और सांस्कृतिक अधिकारों को सिद्ध करने की आवश्यकता पड़ी। उन्हें मात्र धार्मिक अल्पसंख्यक नहीं, बल्कि 'पाकिस्तान समर्थक' या 'विभाजन के उत्तराधिकारी' की संदेहास्पद दर्शष्टि से देखा जाने लगा। परिणामस्वरूप भारतीय मुसलमानों को एक विशेष प्रकार की मानसिक द्वंद्वात्मकता और सामाजिक दबाव के बीच जीवनयापन करना पड़ा, जिसमें वे न तो पूरी तरह अपने अनुभवों को साझा कर सके, न ही खुले रूप में अपनी सांस्कृतिक विशिष्टताओं को अभिव्यक्त कर पाए। इस स्थिति को साहित्य में अत्यंत प्रभावशाली ढंग से रूपायित किया गया है, जहां लेखकों ने विभाजन के पश्चात मुसलमानों की आंतरिक पीड़ा, उनकी

सामाजिक विसंगतियाँ और पहचान की अस्थिरता को यथार्थपरक संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया है। मंटो की कहानियाँ, जैसे खोल दो, ठंडा गोश्त और टोबा टेक सिंह, न केवल विभाजन की अमानवीयता को दर्शाती हैं, बल्कि वे उस अनकहे दर्द को भी अभिव्यक्त करती हैं, जिसे मुसलमानों ने धर्म और राजनीति के बीच पिसते हुए झेला। भीष्म साहनी का उपन्यास तमस भी इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसमें मुस्लिम पात्रों के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि कैसे वे राजनीतिक शड्यंत्रों और सांप्रदायिक हिंसा के शिकार बने। कृष्णा सोबती, राही मासूम रजा, यशपाल, और असगर वजाहत जैसे साहित्यकारों ने भी इस द्वंद्वात्मक अनुभव को विविध दर्शष्टिकोणों से रेखांकित किया है। विशेष रूप से राही मासूम रजा का उपन्यास आधा गाँव इस सच्चाई को दर्शाता है कि मुसलमानों की अस्मिता केवल धार्मिक संदर्भ में नहीं, बल्कि एक सामाजिक, भाषाई और भावनात्मक स्तर पर भी बनती है, जिसे विभाजन ने बुरी तरह प्रभावित किया। उन्होंने दर्शाया कि मुस्लिम समुदाय केवल एक 'धार्मिक इकाई' नहीं, बल्कि वह गाँवों, कस्बों, कचहरियों और मदरसों की संयुक्त विरासत में पला-बढ़ा वह समुदाय है, जो हिंदुस्तानी तहजीब का वाहक है। परंतु विभाजन के बाद उसकी यह बहुलता संकुचित होकर केवल एक राजनीतिक 'शंकित अल्पसंख्यक' की पहचान में कैद हो गई। इस संकुचन के कारण उसे न केवल बाह्य समाज से अपमान और अविश्वास का सामना करना पड़ा, बल्कि भीतर ही भीतर आत्म-संकोच, अपराधबोध और आत्म-पीड़न की मानसिकता भी जन्म लेने लगी। इस परिस्थिति ने मुसलमानों के बीच एक गहरे आत्मसंघर्ष को जन्म दिया-वे एक ओर अपने ऐतिहासिक, धार्मिक और सांस्कृतिक गौरव की रक्षा करना चाहते थे, वहीं दूसरी ओर वे आधुनिक, लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष भारत में स्वीकार्यता प्राप्त करना चाहते थे। इस द्वंद्वात्मकता ने उन्हें अपने ही देश में 'स्वदेशी परदेसी' की स्थिति में ला खड़ा किया। इस अंतर्विरोधी अनुभव को गहराई से समझने के लिए साहित्यिक स्रोतों का विश्लेषण अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि साहित्य ही वह माध्यम है जो मनुष्य के आंतरिक संसार की गूंजों, उसकी पीड़ाओं, आकांक्षाओं और संकटों को प्रामाणिक रूप में व्यक्त कर सकता है। इस शोध पत्र का मूल उद्देश्य यही है कि वह विभाजन के बाद भारतीय मुसलमानों की अस्मिता, सामाजिक स्थिति और मानसिकता को उन साहित्यिक कृतियों के आलोक में विश्लेषित करे, जिन्होंने इन अनुभवों को न केवल शब्द दिए, बल्कि उन्हें ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विमर्श का केंद्र भी बनाया। यह अध्ययन दर्शाता है कि मुसलमानों की अस्मिता न तो एक समान है, न स्थिर; वह एक सतत गतिशील, संघर्षशील और पुनर्निमाणशील प्रक्रिया है, जिसे समझने के लिए हमें इतिहास और साहित्य दोनों की संयुक्त अंतर्दृष्टि की आवश्यकता है।

1947 का वर्ष भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास में न केवल स्वतंत्रता का उद्घोष लेकर आया, बल्कि एक अभूतपूर्व विभाजन की त्रासदी भी साथ लाया, जिसने सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक ताने-बाने को अस्थिर कर दिया। भारत की स्वतंत्रता और

पाकिस्तान के निर्माण की प्रक्रिया को यदि केवल राजनीतिक सत्ता के हस्तांतरण के रूप में देखा जाए तो यह एक अधूरा दृष्टिकोण होगा। वस्तुत: यह विभाजन धार्मिक आधार पर हुआ, जिसके मूल में उपनिवेशवाद की 'फूट डालो और राज करो' की नीति, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के वैचारिक संघर्ष, और औपनिवेशिक प्रशासन की रणनीतिक विफलता छिपी थी। इस विभाजन के परिणामस्वरूप भारत और पाकिस्तान दो पृथक राष्ट्र तो बने, परंतु इस घटना ने लाखों-करोड़ों व्यक्तियों के जीवन को जड़ से उखाड़ दिया। ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार, इस दौरान लगभग एक करोड़ से अधिक लोग अपने घरों से विस्थापित हुए और दस लाख से अधिक लोग सांप्रदायिक हिंसा की भेंट चढ़ गए। पंजाब और बंगाल जैसे सीमावर्ती क्षेत्रों में नरसंहार, सामूहिक बलात्कार, धर्मांतरण और पलायन की घटनाएँ इतनी व्यापक थीं कि उन्होंने मानवता को शर्मसार कर दिया।

इस विभाजन ने विशेष रूप से भारतीय मुसलमानों को एक असाधारण संकट में धकेल दिया। एक ओर, वे उस धार्मिक समुदाय का हिस्सा थे, जिसके नाम पर पाकिस्तान बना था, और दूसरी ओर उन्होंने भारत को अपना वतन चुना। इस निर्णय के कारण उन्हें न केवल भावनात्मक और वैचारिक द्वंद्व से गुजरना पड़ा, बल्कि उनके अस्तित्व, निष्ठा और पहचान पर बार-बार प्रश्न उठाए जाने लगे। यह केवल बाहरी नहीं, बल्कि आंतरिक संकट भी था, जिसमें उन्हें अपनी अस्मिता की पुनर्संरचना करनी पड़ी-क्योंकि स्वतंत्रता के तुरंत बाद उनके लिए भारत की नागरिकता केवल एक कानूनी स्थिति नहीं, बल्कि एक मानसिक और सामाजिक संघर्ष का क्षेत्र बन गई।

विभाजन के पश्चात, भारतीय मुसलमानों को बार-बार अपनी देशभक्ति सिद्ध करनी पड़ी, और यह प्रक्रिया आज तक समाप्त नहीं हुई है। वे केवल एक धार्मिक समुदाय नहीं, बल्कि एक ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और भाषिक इकाई भी थे, जिनका योगदान भारतीय सभ्यता में अविस्मरणीय रहा है। दिल्ली, लखनऊ, हैदराबाद और भोपाल जैसे शहर मुसलमानों की सांस्कृतिक धरोहर के जीवंत उदाहरण हैं, जहाँ से उर्दू भाषा, शायरी, संगीत, पाककला, वस्त्रशिल्प और स्थापत्य कला जैसे बहुआयामी योगदान विकसित हुए। परंतु विभाजन के बाद इन सांस्कृतिक पहचान-चिन्हों को भी संदेह की दृष्टि से देखा जाने लगा। मुसलमानों का पहनावा, खानपान, भाषा और यहाँ तक कि उनके धार्मिक आचरण भी उन्हें 'अन्य' या 'दूसरा' सिद्ध करने के औजार बन गए।

इस पूरी ऐतिहासिक परिस्थिति में भारतीय मुसलमानों की मानसिक संरचना और सामाजिक स्थिति का पुनर्निर्माण एक चुनौतीपूर्ण कार्य था। उन्हें एक ओर धार्मिक उग्रवाद और कट्टरता से जूझना पड़ा, वहीं दूसरी ओर 'मुख्यधारा' द्वारा उपेक्षा, अलगाव और अविश्वास का शिकार होना पड़ा। यह दोहरा दबाव उनके आत्मबोध को खंडित करता रहा, जिससे उनके भीतर एक प्रकार की आत्मरक्षा की प्रवश्त्ति और आत्मसंकोच पनपा। कई

मुसलमानों ने अपने मुस्लिम नाम बदल लिए, कई ने अपनी धार्मिक पहचान छिपाई, और कुछ ने अपने धार्मिक आचरण में समझौते किए ताकि वे 'स्वीकार्य नागरिक' बने रह सकें।

विभाजन ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भारतीय राज्य, भले ही अपने संविधान में ध मंनिरपेक्षता और समानता की बात करता हो, परंतु व्यवहारिक धरातल पर मुसलमानों को बराबरी का स्थान दिलाने में असफल रहा है। मुसलमानों की शिक्षा, रोजगार, आवास, और राजनीतिक प्रतिनिधित्व के संदर्भ में स्थिति आज भी असमान है। सच्चर कमेटी की रिपोर्ट (2006) इस असमानता को ठोस आँकड़ों के साथ रेखांकित करती है। रिपोर्ट के अनुसार, मुसलमानों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति अनुसूचित जातियों से भी खराब पाई गई। यह स्थिति किसी एक समय की नहीं, बल्कि एक ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है, जिसकी जड़ें विभाजन के तत्काल बाद उपजे संदेह और असुरक्षा में निहित हैं।

ऐसे संदर्भ में भारतीय मुसलमानों की अस्मिता को समझने के लिए केवल सामाजिक या राजनीतिक विमर्श पर्याप्त नहीं हैं; साहित्यिक अभिव्यक्तियाँ इस पीड़ा और अंतर्विरोध को कहीं अधिक प्रामाणिकता और मानवीयता के साथ प्रस्तुत करती हैं। भीष्म साहनी के तमस में जब मुस्लिम पात्र इब्राहिम को देशभक्त होते हुए भी सांप्रदायिक हिंसा का शिकार होना पड़ता है, तो वह किसी एक पात्र की त्रासदी नहीं, बल्कि पूरे समुदाय की असुरक्षा का प्रतीक बन जाता है। मंटो की खोल दो और ठंडा गोश्त जैसी कहानियाँ विभाजन की अमानवीयता को केवल हिंदू-मुस्लिम संघर्ष तक सीमित नहीं रखतीं, बल्कि वे इस तथ्य को रेखांकित करती हैं कि धार्मिक पहचान की जबरन परिभाषा कैसे मानवीय संबंधों और व्यक्ति की निजता को नष्ट कर देती है। इस समूचे परिदृश्य से यह स्पष्ट होता है कि विभाजन की त्रासदी केवल भूगोल का पुनर्विन्यास नहीं था, बल्कि यह स्मृति, अस्मिता और सामाजिक मनोविज्ञान का गहरा विघटन भी था। मुसलमानों को भारत में रहकर बार-बार यह साबित करना पड़ा कि वे देश के प्रति वफादार हैं, जबकि पाकिस्तान में उन्हें कभी पूरी तरह "अपना" नहीं समझा गया, क्योंकि उन्होंने 'हिजरत' नहीं की थी। इस प्रकार वे दोनों ओर से संदेह और अस्वीकार के शिकार बने। ऐसे में उनकी पहचान एक 'बॉर्डरलाइन अस्मिता' में परिवर्तित हो गई-जो स्थायी रूप से अनिश्चित, गतिशील और बहुस्तरीय बन गई।

इस ऐतिहासिक और सामाजिक जटिलता को समकालीन विमर्श में समझना नितांत आवश्यक है, क्योंकि यह केवल अतीत का विषय नहीं, बल्कि वर्तमान भारत की बहुलतावादी संरचना, अल्पसंख्यक अधिकारों और सांस्कृतिक समावेशन की परख का एक संवेदनशील मानक भी है। भारतीय मुसलमानों की अस्मिता न तो 'पाकिस्तानी' है, न ही केवल 'धार्मिक'; यह एक जटिल, ऐतिहासिक रूप से निर्मित और साहित्यिक रूप से व्यक्त की गई अस्मिता है, जिसे समझने के लिए ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय और साहित्यिक दृष्टियों का समेकित अध्ययन अत्यावश्यक है।

भारत के मुसलमानों की स्थिति विभाजन के बाद जिस असहज और जटिल बिंदु पर पहुँची, उसे केवल धार्मिक या सामाजिक संकट कहकर नहीं समझा जा सकता; यह एक व्यापक द्वैत चेतना का अनुभव था, जहाँ एक ओर वे भारत के संवैधानिक नागरिक थे, और दूसरी ओर उन पर लगातार पाकिस्तान से भावनात्मक या वैचारिक जुड़ाव का संदेह किया जाता रहा। यह संदेह केवल बाह्य सामाजिक दृश्ष्टिकोण में नहीं था, बल्कि धीरे-धीरे उनके आत्मबोध और सामाजिक सहभागिता के ढाँचे में भी प्रवेश कर गया। मुशर्रफ आलम जौकी जैसे लेखक इस स्थिति को अत्यंत मार्मिक रूप से चित्रित करते हैं। वे लिखते हैं कि मुसलमान होना जैसे "बेघर होते हुए भी एक घर में कैद होने जैसा" अनुभव है-इसका आशय यह है कि मुसलमानों को भारत में कानूनी तौर पर तो 'घर' मिला, लेकिन सामाजिक रूप से उन्हें लगातार 'अन्य' की दृष्टि से देखा जाता रहा। सईद नकवी की चर्चित पुस्तक बींग द अदर : द मुस्लिम इन इंडिया (2016) इसी विमर्श को और स्पष्ट करते हुए लिखती है कि "मुसलमान होना भारत में स्वयं एक राजनीतिक कृत्य बन गया है।" यह कथन दरअसल उस ऐतिहासिक पीड़ा और राजनीतिक बोझ को उजागर करता है जिसे भारतीय मुसलमान प्रतिदिन वहन करते हैं। उनकी धार्मिक अस्मिता एक राजनीतिक उपपत्ति बन गई है, जिस पर अक्सर संदिग्ध दृष्टि डाली जाती है-चाहे वह उनकी देशभक्ति हो, चुनावी राजनीति में उनकी भूमिका हो, या सांस्कृतिक प्रतीकों की अभिव्यक्ति। विभाजन के बाद भारतीय मुसलमान न केवल एक ऐतिहासिक अपराधबोध के साथ जीते रहे, बल्कि उनके हर सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यवहार को 'राष्ट्र-विरोध' या 'वफादारी की परीक्षा' के रूप में देखा गया। इस स्थिति ने उनके लिए जीवन को एक सतत सफ़ाई देने की प्रक्रिया में बदल दिया। यही कारण है कि मुसलमानों के लिए मस्जिद जाना, उर्दू बोलना, या धार्मिक पहचान प्रदर्शित करना भी एक राजनीतिक कृत्य बन गया, जिसे भारतीय बहुसंख्यक मानसिकता या सत्तात्मक विमर्श संदिग्ध दृष्टि से देखता रहा। यह द्वैध स्थिति केवल आम मुसलमान तक सीमित नहीं रही, बल्कि बुद्धिजीवी, साहित्यकार और पत्रकार भी इससे अछूते नहीं रहे। जब राही मासूम रजा जैसे लेखक को अपनी किताब आधा गाँव में यह कहना पड़ता है कि ''मैं मुस्लिम हूँ, लेकिन उससे पहले हिंदुस्तानी हूँ'', तो यह कथन न केवल व्यक्तिगत आत्मरक्षा है, बल्कि उस सामूहिक चिंता और दबाव का प्रतिनिधित्व करता है जो विभाजन के बाद मुसलमानों की चेतना में स्थायी रूप से अंकित हो गया है। इस प्रकार मुसलमान होना आजाद भारत में एक सामान्य नागरिक स्थिति नहीं रह गई, बल्कि एक राजनीतिक-आलोचनात्मक स्थिति बन गई, जो सतत निगरानी, आरोप और सफाई की मांग करती रही है। यह अस्मिता की वह पीड़ा है जिसे समझे बिना न तो भारत की धर्मनिरपेक्षता का मूल्यांकन किया जा सकता है और न ही भारतीय मुसलमानों की सामाजिक-राजनीतिक स्थिति का।

विभाजन और मुस्लिम अस्मिता की त्रासदी का सबसे प्रभावशाली, संवेदनशील और बहुपरतीय चित्रण हिंदी और उर्दू साहित्य में हुआ है, जहाँ यह केवल ऐतिहासिक घटनाओं का पुनरावश्त्त चित्र नहीं बनता, बल्कि उन घटनाओं के भीतर मानव पीड़ा, अस्मिता संकट, और सामाजिक द्वंद्व के जटिल प्रश्नों को भी उद्‌भासित करता है। विशेषतः भीष्म साहनी का उपन्यास तमस (1973), विभाजन की पूर्व संध्या पर एक छोटे से कस्बे की पृष्ठभूमि में सांप्रदायिक तनाव के सघन वातावरण में मुसलमानों की मनोदशा और स्थिति को बहुत ही सघनता से दर्शाता है। उपन्यास का केंद्रीय मुस्लिम पात्र इब्राहिम स्वतंत्रता संग्राम का सहभागी रहा है, जिसने एक समय देश की एकता के लिए काम किया, परंतु उसी देश की सांप्रदायिक राजनीति का शिकार बन जाता है। वह हिंसा, अविश्वास और द्वेष के उस जाल में फँस जाता है जहाँ उसकी निष्ठा, राष्ट्रभक्ति और पहचान को भुला दिया जाता है। तमस यह दर्शाता है कि कैसे राजनीतिक स्वार्थों ने धार्मिक पहचान को हिंसा का औजार बना दिया और मुसलमानों को दोयम दर्जे का नागरिक बनाकर खड़ा कर दिया, जिनकी अस्मिता अब केवल 'मुसलमान' होकर ही देखी जाती है, न कि स्वतंत्रता संग्राम के सहभागी के रूप में।

इसी संदर्भ में कृष्णा सोबती का जिंदगीनामा (1979) भी एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृति है, जो पंजाब की ग्रामीण पृष्ठभूमि में विभाजन के पहले के हिंदू-मुस्लिम संबंधों की सहजता और सांस्कृतिक घुलनशीलता को बारीकी से चित्रित करता है। सोबती का यह उपन्यास विभाजन से पहले के उस भारतीय समाज का प्रतिनिधित्व करता है जहाँ मुसलमान और हिंदू न केवल एक ही मिट्टी के जीवित अनुभव थे, बल्कि एक-दूसरे की सांस्कृतिक धड़कनों में रचे-बसे हुए थे। उपन्यास में मुसलमान पात्र धार्मिक रूप से भिन्न होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से पूर्णतः सम्मिलित दिखते हैं। लेकिन जैसे-जैसे विभाजन का समय निकट आता है, एक ओर उग्र सांप्रदायिकता अपनी जड़ें जमाने लगती है, और दूसरी ओर मुसलमान पात्रों के जीवन में संशय, पीड़ा और अंतर्द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न होती है। इस उपन्यास में मुस्लिम अस्मिता कोई वैचारिक अवधारणा नहीं, बल्कि एक सामाजिक चेतना है, जो लगातार अपने विस्थापन और बहिष्करण की संभावना से जूझती रहती है।

हिंदी साहित्य में विभाजन की पीड़ा और मुस्लिम अस्मिता के संघर्ष का सबसे महत्त्वपूर्ण और वृहद चित्रण यशपाल के उपन्यास झूठा सच (दो खंडों में, 1958 व 1960) में मिलता है। यह उपन्यास विभाजन की पूर्वपीठिका से लेकर स्वतंत्र भारत के शुरुआती वर्षों तक का सजीव सामाजिक इतिहास है, जिसमें राजनीतिक परिवर्तन, सांप्रदायिकता और अस्मिता की गुत्थियों को अत्यंत जटिलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इसमें मुसलमान पात्रों की अस्मिता और द्वंद्व को विशेष रूप से रेखांकित किया गया है। उपन्यास का प्रमुख मुस्लिम पात्र रशीद एक उदारवादी और भारतीय राष्ट्रवाद का समर्थक है, जो विभाजन के बाद भारत में ही रहने का निर्णय करता है। रशीद का यह निर्णय केवल व्यक्तिगत भावना नहीं, बल्कि वह भारतीय समाज के साथ अपने ऐतिहासिक और भावनात्मक जुड़ाव का

प्रमाण भी है। लेकिन जब वह स्वतंत्र भारत में रहकर एक सामान्य जीवन जीने का प्रयास करता है, तो उस पर बार-बार संदेह किया जाता है। उसके राष्ट्रभक्त होने की बातें भुला दी जाती हैं और उसकी धार्मिक पहचान को उसके सामाजिक व्यवहार की कसौटी बना दिया जाता है। यशपाल ने इस पात्र के माध्यम से यह प्रश्न उठाया है कि क्या एक मुसलमान, जो भारत का नागरिक है, कभी इस देश में सहज नागरिक बन सकेगा या उसकी अस्मिता सदा संदेह की परिधि में रहेगी? इस उपन्यास में रशीद की मानसिक स्थिति केवल किसी एक व्यक्ति की नहीं, बल्कि विभाजन के बाद भारत में रह गए करोड़ों मुसलमानों की सांकेतिक छवि है, जिन्हें अपने वतन में ही 'दूसरे' की दृष्टि से देखा गया। यशपाल के शब्दों में, भारत की स्वतंत्रता वास्तव में बहुसंख्यकवादी मानसिकता की स्वतंत्रता बनती चली गई, जिसमें अल्पसंख्यक-विशेष रूप से मुसलमान-अक्सर उपेक्षित, संदिग्ध और हाशिए पर खड़े दिखाई देते हैं। झूठा सच इस बात को भी रेखांकित करता है कि किस प्रकार स्वतंत्र भारत में सांप्रदायिक राजनीति ने एक स्थायी 'संदेह का वातावरण' तैयार किया, जहाँ मुसलमानों की पहचान केवल उनके धर्म के माध्यम से देखी जाने लगी, और उनके सामाजिक-राजनीतिक अधिकारों की उपेक्षा की जाने लगी।

इन तीनों साहित्यिक कृतियों-तमस, जिंदगीनामा, और झूठा सच-में विभाजन और मुस्लिम अस्मिता की जो बहुआयामी छवि प्रस्तुत होती है, वह ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक स्तर पर एक गंभीर प्रश्नचिह्न प्रस्तुत करती है। ये कृतियाँ यह दिखाती हैं कि मुसलमानों की अस्मिता केवल धार्मिक पहचान नहीं है, बल्कि वह भारतीय समाज के साथ उनके ऐतिहासिक जुड़ाव, सांस्कृतिक योगदान और नागरिकता की चेतना का गहन मिश्रण है। परंतु विभाजन के बाद जब यह अस्मिता संदेह, अलगाव और उपेक्षा की दृष्टि से देखी जाने लगी, तब यह केवल एक पहचान का संकट नहीं रहा, बल्कि एक समूची पीढ़ी की स्मृति, मनोविज्ञान और अस्तित्व का संकट बन गया। इन कृतियों में मुस्लिम पात्रों की विवशता, आत्मसंघर्ष, और सामाजिक घुटन इस तथ्य को सामने लाती है कि भारतीय लोकतंत्र की सफलता तभी संभव है जब वह अस्मिता को स्वीकार्यता और गरिमा के साथ जोड़ सके, न कि संदेह और बहिष्कार के साथ। इस प्रकार, हिंदी और उर्दू साहित्य न केवल विभाजन की ऐतिहासिक त्रासदी को अभिलेखित करता है, बल्कि भारतीय मुसलमानों की अस्मिता के उस संघर्ष को भी मुखर करता है, जो आज भी सतत जारी है। इन कृतियों के माध्यम से हम यह समझ सकते हैं कि भारतीय मुसलमानों की पहचान केवल धार्मिक नहीं, बल्कि एक जटिल सामाजिक-सांस्कृतिक अस्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है, जिसकी समझ के बिना भारत की बहुलतावादी आत्मा अधूरी रह जाएगी।

हम सीधे मुस्लिम अस्मिता के संकट को केंद्र में रखते हुए कविता की तलाश करें तो कैफी आजमी, फैज अहमद फैज और अली सरदार जाफरी जैसे उर्दू से जुड़ाव रखने वाले लेकिन हिंदी मानस में रचे-बसे कवियों के काव्य से गुजरना जरूरी हो जाता है। फैज की

मशहूर कविता "ये दाग दाग उजाला" में यह पीड़ा मुखर होती है कि यह आजादी वह नहीं थी, जिसके लिए लोगों ने संघर्ष किया था-बल्कि यह विभाजन, हत्या और निर्वासन की आजादी थी। वह लिखते हैं: "ये वो सहर तो नहीं जिस की आरजू लेकर / चले थे यार कि मिल जायेगी कहीं न कहीं।" यह कविता एक ओर राष्ट्रवादी स्वप्न के टूटने की व्यथा है, तो दूसरी ओर मुसलमानों की उस छटपटाहट की प्रतीक है, जिनका यह वतन अब उन्हें संदेह की दरशष्टि से देखता है।

राहत इंदौरी, जिनकी शायरी भारत की साझी संस्कृति और अल्पसंख्यकों की अस्मिता की एक जिद भरी घोषणा है, वे विभाजन के घावों को समकालीन संदर्भों में जोड़ते हुए कहते हैं-"सबका खून है शामिल यहाँ की मिट्टी में / किसी के बाप का हिंदुस्तान थोड़ी है।" यह पंक्ति न केवल मुसलमानों के राष्ट्र से रिश्ते की पुनर्पुष्टि करती है, बल्कि उनपर लगाए जाने वाले निरंतर संदेह का भी मुँहतोड़ उत्तर देती है। हिंदी कवियों में केदारनाथ सिंह की कविताएँ सांस्कृतिक बारीकियों के जरिए मुसलमानों की उपस्थिति और उनकी चिंता को स्वर देती हैं। उनकी कविता बाघ में सांप्रदायिक भय और प्रतीकात्मक हिंसा का अनुभव अंधेरे रूप में उभरता है, जहाँ अल्पसंख्यकों की मौजूदगी लगातार डर और दूरी में तब्दील हो जाती है। 'सन 47 को याद करते हुए' में भारत विभाजन की त्रासदी और उसमें फँसे आम इंसान, विशेषकर मुसलमानों की अस्मिता का गहन चित्रण मिलता है। कविता में सांप्रदायिक उन्माद के बीच पहचान खोते लोगों, बँटती जमीन और टूटते भरोसे की पीड़ा मुखर है। कवि एक दृश्य प्रस्तुत करता है जहाँ लोग धर्म के नाम पर मार-काट कर रहे हैं और मुसलमानों को अपने ही देश में पराया बना दिया गया है। यह कविता बताती है कि असली त्रासदी केवल भौगोलिक नहीं, बल्कि मानवीय और सांस्कृतिक अस्मिता का टूटना था। मुक्तिबोध की कविताओं में भी यह संघर्ष विचारधारात्मक स्तर पर सामने आता है। अँधेरे में जैसी कविता में जो भय, दमन और अस्मिता संकट की अंतर्धारा बहती है, वह सीधे-सीधे मुसलमानों तक सीमित नहीं है, परंतु उस वर्ग के प्रति उत्पन्न सामाजिक संशय और नैतिक विघटन को रेखांकित करती है, जो विभाजन के बाद और अधिक तीव्र हो गया।

नीलाभ अश्क और गुलजार जैसे समकालीन रचनाकारों की कविताएँ उस 'गुमशुदा घर' की तलाश करती हैं, जो विभाजन के बाद मुसलमानों के लिए एक अस्तित्वगत प्रश्न बन गया। गुलजार की कविता "सीमा" में वे लिखते हैं: "सीमाएँ दिलों में नहीं, नक्शों में खींची जाती हैं / मगर जख्म सीने में होते हैं।" यह पंक्ति न केवल पाकिस्तान-भारत की विभाजन रेखा की आलोचना है, बल्कि उन लोगों की चेतना का चित्रण भी है जो अपनी ही मिट्टी में अजनबी हो गए। हिंदी कविता में इकबाल, जो भले ही विभाजन से पहले के कवि थे, परंतु जिनकी शायरी को विभाजन के बाद भारतीय मुसलमानों के संदर्भ में नए अर्थों में पढ़ा गया-उनकी "सारे जहाँ से अच्छा" कविता को एक ओर राष्ट्रभक्ति के प्रतीक रूप में पढ़ा गया, वहीं दूसरी ओर उनके राजनीतिक रुझानों को विभाजन के लिए जिम्मेदार

भी ठहराया गया। ऐसे में उनकी रचनाओं के पुनर्पाठ ने भी मुस्लिम अस्मिता के संकट को नई दृष्टि दी। हिंदी कविता की यह विशेषता रही है कि वह केवल घटनाओं का ऐतिहासिक दस्तावेज नहीं बनती, बल्कि वह मनुष्य की अंतरात्मा में उठती बेचैनियों को भी स्वर देती है। इम्तियाज धारावाला, इशरत अली खान, और बशीर बद्र जैसे अल्पसंख्यक कवियों की रचनाएँ भी इस बात को उजागर करती हैं कि मुसलमानों को उनके इतिहास, भाषा और संस्कृति से काट देने की जो प्रक्रिया विभाजन के बाद शुरू हुई, उसने उन्हें मानसिक रूप से एक अनिर्णय और अस्तित्व-संकट की अवस्था में ला खड़ा किया। वे कविताओं में बार-बार यह प्रश्न पूछते हैं कि क्या मुसलमान होना ही अब शक का विषय है? क्या उर्दू बोलना, टोपी पहनना, या अजान देना भी अब 'राजनीतिक बयान' है?

विभाजन के बाद की हिंदी कविताओं में यह स्वर गहराता चला गया कि भारत की बहुलतावादी परंपरा का सबसे पहला और गहरा घाव मुसलमानों की अस्मिता पर ही पड़ा। यहाँ कविता केवल संवेदना नहीं, प्रतिरोध और पुनःदावे का भी माध्यम बनी। दुष्यंत कुमार की गजलों में यह चेतावनी है कि लोकतंत्र की आड़ में बहुसंख्यक वर्चस्व मुसलमानों को अलग-थलग कर रहा है। उनका शेर "यहाँ तक आते-आते सूख जाती हैं कई नदियाँ / मुझे मालूम है पानी कहाँ ठहरा हुआ होगा" उस थमे हुए जल की उपमा है, जो मुसलमानों की अवरुद्ध सामाजिक स्थिति की ओर संकेत करती है। इस प्रकार, हिंदी कविता भारत के विभाजन और भारतीय मुसलमानों की अस्मिता को केवल इतिहास की पुनरावृत्ति के रूप में नहीं देखती, बल्कि उसे वर्तमान सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक संवाद और आत्मपरक चेतना से जोड़ती है। यह साहित्यिक साक्ष्य हमें बताता है कि कविता वह जीवंत दस्तावेज है, जो केवल आँकड़ों और घोषणाओं से नहीं, बल्कि मनुष्य की छटपटाहट और पहचान की अनसुनी चीख से भारत के इतिहास और वर्तमान को बुनती है। विभाजन और मुसलमानों की अस्मिता के प्रश्न को समझने के लिए हिंदी कविता एक महत्वपूर्ण माध्यम बनती है-एक ऐसा दर्पण, जिसमें केवल अतीत नहीं, बल्कि वर्तमान और भविष्य की संभावनाएँ भी देखी जा सकती हैं।

उर्दू कथा-साहित्य में सआदत हसन मंटो की कहानियाँ विभाजन की त्रासदी, मानसिक विकलता, पहचान के संकट और मुसलमानों के अस्तित्व की जटिल लड़ाई को जिस निर्ममता और तीव्र संवेदनशीलता से उजागर करती हैं, वह उन्हें इस विषय का सर्वाधिक प्रभावशाली साहित्यिक हस्ताक्षर बनाती है। मंटो की कहानियाँ न तो भावुकतावश किसी पक्ष में खड़ी होती हैं, न ही किसी वैचारिक औचित्य की खोज करती हैं, बल्कि वे उस नंगे यथार्थ को प्रस्तुत करती हैं जो विभाजन के दौरान और उसके बाद मुसलमानों समेत समस्त मानवता पर बीती। टोबा टेक सिंह मंटो की सबसे चर्चित और विचारोत्तेजक कहानी है, जिसमें पागलखाने के कैदियों को भारत और पाकिस्तान के बीच बाँटने की प्रक्रिया दिखाई गई है। यह प्रतीकात्मक दश्श्य उस राजनीतिक और मानवीय मूर्खता की गवाही देता है,

जिसमें इंसानों को सरहदों के आधार पर बाँटने की कोशिश की गई। बिशन सिंह, जो ''टोबा टेक सिंह'' से है, एक सिख है, परंतु उसका यह अनिश्चय कि उसका गाँव अब भारत में है या पाकिस्तान में, उसे किसी भी भूगोल और राजनीतिक ढाँचे में फिट नहीं होने देता। वह "जहाँ कोई टोबा टेक सिंह नहीं" उस जमीन पर मरता है-यह जमीन किसी देश से नहीं, बल्कि मानवीय अस्मिता से जुड़ी है। मंटो यहाँ बिशन सिंह के माध्यम से उस पूरे समुदाय की पहचान की त्रासदी दिखाते हैं जो न तो भारत में पूरी तरह से सुरक्षित महसूस कर सका, न ही पाकिस्तान की कल्पना से जुड़ सका। यही पहचान की अस्थिरता मुसलमानों की अस्मिता का भी संकट बन गई, जिनकी निष्ठा, देशभक्ति और सामाजिक स्वीकृति पर विभाजन के बाद लगातार प्रश्न उठाए गए। इसी तरह खोल दो में मंटो बलात्कार की शिकार सकीना के माध्यम से यह दिखाते हैं कि विभाजन केवल जमीनों का नहीं, बल्कि औरतों के शरीरों का, आत्मा का और अस्मिता का भी विभाजन था। जब उसका पिता उसे ढूँढ़कर लाता है और डॉक्टर के सामने कहता है "सकीना, बेटी दरवाजा खोल दो", तो वह पड़ी-पड़ी अपना सलवार उतार देती है-यह संकेत है कि वह बार-बार शोषण और बलात्कार से गुजरी है, और अब उसके लिए 'खोलना' एक पीड़ादायी यंत्रणा का रिफ्लेक्स बन चुका है। यह मानसिक और शारीरिक टूटन न केवल मुसलमान लड़कियों की स्थिति को उजागर करती है, बल्कि उस समय की सामाजिक व्यवस्था की क्रूरता को भी उद्घाटित करती है। ठंडा गोश्त में मंटो यह दिखाते हैं कि कैसे दंगों में हत्या और बलात्कार के बाद अपराधबोध और पश्चाताप भी पुरुष की पहचान को विखंडित कर देता है। इस कहानी का मुस्लिम पात्र ईशर सिंह, जो एक सिख है, ने एक मुस्लिम लड़की का बलात्कार किया था, जो पहले ही मर चुकी थी-यह 'ठंडा गोश्त' उस संज्ञाहीनता और अमानवीयता का प्रतीक है जो विभाजन के समय आम हो गई थी। मंटो की कहानियों में भाषा का प्रयोग सरल होते हुए भी तीव्र, सीधा और गहराई लिए होता है, जो पाठक को आंतरिक रूप से झकझोर देता है। वे मुस्लिम अस्मिता की नाटकीय व्याख्या नहीं करते, बल्कि उसके विखंडन को, उसकी यातना को और उसके मूक आक्रोश को एक ऐसी सहजता से रचते हैं कि वह कहानी से ज्यादा दस्तावेज प्रतीत होती है। मंटो स्वयं लिखते हैं-"मैं वह चीज क्यों उठाऊँ जो गंदी है? क्योंकि मैं उसे गंदा नहीं मानताख्र अगर आप उसे गंदा समझते हैं, तो मैं क्या करूँ?" इस आत्मस्वीकृति के साथ उनकी कहानियाँ विभाजन के समय मुसलमानों की अस्मिता को गंदगी, अपमान और पीड़ा के बीच से निकाल कर समाज के सामने रख देती हैं, एक चुनौती की तरह। अतः मंटो की कथा-दशष्टि केवल ऐतिहासिक यथार्थ की नहीं, बल्कि उस भीतर से टूटते इंसान की पहचान की है, जो विभाजन के बाद न तो अपनी जमीन, न अपनी भाषा, और न ही अपने शरीर को अपना कह सकता है।

भारतीय मुसलमानों की अस्मिता का प्रश्न केवल धार्मिक पहचान का नहीं, बल्कि सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक समावेशिता का भी प्रश्न है। विभाजन ने उनके ऊपर

एक संदेह का साया डाला, जिसने साहित्य और समाज दोनों में उनकी स्थिति को जटिल बना दिया। आज, जब भारत लोकतांत्रिक और बहुलतावादी राष्ट्र होने का दावा करता है, तो मुस्लिम अस्मिता को केवल 'दूसरे' के रूप में देखने के बजाय, उसे भारतीय राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया का एक अभिन्न हिस्सा मानना अधिक समीचीन होगा।

सन्दर्भः

1. भीष्म साहनी - तमस
2. यशपाल -झूठा सच
3. सआदत हसन मंटो - टोबा टेक सिंह, खोल दो, ठंडा गोश्त
4. कृष्णा सोबती - जिंदगीनामा
5. राही मासूम रजा - आधा गाँव, टोपी शुक्ला
6. असगर वजाहत - जिन लाहौर नहीं वेख्या
7. सईद नकवी -Being the Other: The Muslim in India
8. इस्मत चुगताई - लिहाफ
9. अनीस अशफाक - डर (उपन्यास)
10. फैज अहमद फैज - दस्त-ए-सबा, नक्शे फरियादी
11. केदारनाथ सिंह - बाघ, सन 47 को याद करते हुए